कृष्ण कुमार

जाने-माने शिक्षाविद्, केन्द्रीय शिक्षण संस्थान,
दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं।

यह लेख भारत के संदर्भ में शिक्षा के सार्वजनीकरण के विमर्श तथा प्रयासों से गुणवत्ता और समानता के बीच उत्पन्न की गई खाई की छानबीन करता है और गुणवत्ता की अवधारणा के निर्धारण में पड़ रहे नवउदारवादी प्रभावों का विश्लेषण करते हुए गुणवत्ता एवं समानता के अनिवार्य संबंध को स्थापित करता है।

शिक्षा में गुणवत्ता

एक विवादास्पद अवधारणा

शिक्षा के संदर्भ में 'गुणवत्ता' शब्द का इस्तेमाल एक स्वभाविक अरुचि जगाता है, फिर भी दो तरह की संस्थाएं, बल्कि दो तरह की व्यवस्था गुणवत्ता के बारे में जो कुछ भी बताती हैं उसमें अंतर करने का प्रलोभन भी उतना ही प्रबल है। न इस अरुचि को समझाना कठिन है और न ही इस प्रलोभन को। कोई व्यक्ति शिक्षा में गुणवत्ता की बात करते हुए जो अरुचि महसूस करता है उसके साथ एक डर जुड़ा होता है कि जब हम किसी भौतिक वस्तु जैसे कार या यात्रा और पर्यटन के अनुभवों की गुणवत्ता को जांचने के मानकों को इस पर लगाकर देखने लगते हैं तो कहीं ऐसा करते हुए हम शिक्षा की अवधारणा को ही तो महत्त्वहीन नहीं बना रहे होते या इसकी आत्मा को ही तो आहत नहीं कर रहे होते। हम शिक्षा को गुणवत्ता के ऐसे तथाकथित मानकों के जरिए जांचे जाने से दुविधा महसूस करते हैं क्योंकि हम शिक्षा को अपने-आपमें एक खास गुणवत्ता या चरित्र से युक्त मानते हैं। हम उचित ही सवाल करते हैं कि क्या गुणवत्ताविहीन शिक्षा को शिक्षा कहा भी जा सकता है और इस तरह के सवाल उठाकर यह समझ पाते हैं कि शैक्षिक प्रक्रिया में विशिष्ट तरह के अनुभव शामिल होते हैं जो निहायत ही जरूरी होते हैं और इसीलिए वे किसी भी तरह के समझौते से परे होते हैं। हम गुणवत्ता शब्द का इस्तेमाल करने के प्रलोभन के इस आवेग पर पहली बार ध्यान तब देते हैं जब न्यूनतम और अधिकतम में फर्क कर रहे होते हैं या किसी संस्थान अथवा तंत्र द्वारा दिए जा रहे शिक्षा के अनुभव का चित्रण करने वाली प्रतिनिधि समानताओं को पहचान रहे होते हैं और यह केवल तब होता है जब हम पर शैक्षिक अनुभव के इस विशिष्ट पहलू को बयान करने का दबाव आता है। हम यह कहने का प्रलोभन महसूस करते हैं कि संस्थान 'ए' की गुणवत्ता या इसका पाठ्यक्रम संस्थान 'बी' के इसी पाठ्यक्रम से बेहतर है क्योंकि शिक्षा की विशिष्टता बताने वाले एक या एक से अधिक लक्षण तुलनात्मक रूप में संस्थान 'ए' में ज्यादा बेहतर हैं।

विचारधारात्मक वातावरण

यह आरंभिक विश्लेषण हमें गुणवत्ता शब्द के दो अर्थों की याद दिलाता है और दोनों ही अर्थ गुणवत्ता पर बहस के हालिया इतिहास में प्रासंगिक रहे हैं (कृष्ण कुमार और सारंगपाणि, 2004)। पहला अर्थ उस महत्त्वपूर्ण गुण को इंगित करता है जिससे किसी वस्तु को पहचाना जा सकता है और दूसरा अर्थ एक वस्तु के दूसरे की तुलना में पायदान और उत्कृष्टता में ऊपर होने को इंगित करता है। शिक्षा में गुणवत्ता की बहस कुछ हद तक एक जगह आकर ठहर जाती है क्योंकि शिक्षा में इस शब्द- गुणवत्ता- का उपयोग करने से इन दो अर्थों के बीच पैदा होने वाले तनाव पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। पिछले कुछ समय में आर्थिक भूमंडलीकरण की नैतिकता और अंतर्राष्ट्रीय मदद व सहयोग द्वारा प्रेरित व संचालित गुणवत्ता ने बतौर सरोकार शैक्षिक विमर्श में अपना वर्चस्व बनाकर रखा है। इसमें से सारा नहीं तो भी ज्यादातर विमर्श राजनैतिक अर्थशास्त्र के नवउदारवादी नजरिए से ओतप्रोत रहा है। इससे संबंधित शिक्षा का नजरिया और पद्धति औपनिवेशिक दुनिया के बहुत से देशों की राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था में प्रतिबिम्बित होते रहे हैं और हिन्दुस्तान भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं रहा है। बल्कि तथाकथित विकसित दुनिया के धनाढ्य देशों के मामले में भी हाल के वर्षों में हुए शैक्षिक शोध व लेखन में इस नवउदारवादी नजरिए का प्रभुत्व प्रतिबिम्बित होता रहा है (इसके बारे में आगे चर्चा की जाएगी)।

देश भर के लिए एक ही तरह के मानक वाले ढांचे की जो लोकप्रियता 'विकासशील' दुनिया में होने वाले गुणवत्ता के किसी भी विमर्श में उभर आती है, इसका संबंध भी प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने के सार्वजनीकरण के उद्देश्य में हुई प्रगति से है। खास तौर पर 1979 के ज्यॉमेतियन सम्मेलन के बाद से (कुमार, प्रियंम एवं सक्सेना 2001)। भूमंडलीकरण के विमर्श में उतावलेपन का आयाम अपेक्षाकृत ज्यादा स्पष्ट है और शिक्षा में गुणवत्ता के समसामयिक विमर्श को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाओं द्वारा सुझाए गए उपचारों के प्रति विलंब से की जाने वाली प्रतिक्रियाओं के निकलने वाले भीषण निहितार्थों के प्रति अनिवार्य रूप से सचेत करने जैसी बातों ने प्रभावित कर रखा है। विकासशील देशों को कब-कब कौन-कौन से उद्देश्य प्राप्त कर लेने चाहिएं इसकी तारीखें निश्चित करना भी इसी घटना का हिस्सा है। और आज की यह लोकप्रिय समझ कि गुणवत्ता पर ध्यान देने का समय आ गया है क्योंकि जहां तक शिक्षा का प्राथमिक स्तर उपलब्ध करवाने की बात है तो इस उद्देश्य को तो करीब-करीब हासिल कर ही लिया गया है, यह भी इसी विमर्श का हिस्सा है। भारत के संदर्भ में उपलब्धता और गुणवत्ता के बीच अंतर के विचार ने 1990 के दशक के दौरान पैरा-टीचर्स की नियुक्ति जैसे नीति संबंधी विकल्पों को तथा एज्युकेशन गारंटी स्कीम (ईजीएस) व जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीईपी) जैसे कार्यक्रमों को दिशा देने का काम सक्रिय रूप से किया है। यह तर्क दिया जा सकता है कि 1986 में बनी शिक्षा नीति ने शिक्षा के सार्वजनीकरण के उद्देश्य को पाने के लिए स्कूली शिक्षा के विकल्प के रूप में अनौपचारिक शिक्षा जैसे विकल्पों को पहले ही वैधानिकता का दर्जा दे दिया था। इस तरह के तर्क के निहितार्थ डीपीईपी के तत्वावधान में विभिन्न राज्यों में उनकी विशेष राजनैतिक-आर्थिक परिस्थितियों के तहत भविष्य में लिए गए निर्णयों में परिलक्षित होते दिखे। ईजीएस जैसी योजना इस बात को विशेष रूप से दर्शाती है कि कैसे किसी तंत्र में वित्तीय संकट के बावजूद सब कुछ ठीक-ठाक होता दिखाने जैसे अल्पकालीन उद्देश्यों को अपनाने से दीर्घकालीन नुकसान की जड़ जम जाती है। इस तरह की पहल में तंत्र की जवाबदेही सरकारों के ऊपर थोप दी गई है, यह बात कई राज्यों में स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आ गई है। इस संदर्भ में मध्यप्रदेश एक दिलचस्प उदाहरण प्रस्तुत करता है कि कैसे अंतर्राष्ट्रीय सलाहकारों द्वारा 1990 के दौरान विस्तार के लिए सुझाए गए सभी उपचारों की अतिरेक की हद तक अनुपालना का परिणाम इसके शिक्षा तंत्र की बड़ी दुर्दशा के रूप में सामने आया है।

पिछले दो दशकों में हरेक देश के भीतर और उससे बाहर दुनिया के दूसरे देशों में शिक्षा की उपलब्धता और गुणवत्ता में हुए विकास पर नजर रखने या उसका अनुश्रवण करने के सूचकों ने वस्तु व श्रम दोनों के बाजार के भौगोलिक विस्तार में रुचि प्रदर्शित करने वाले वैश्विक सांस्थानिक माहौल में मान्यता हासिल की है। निर्यात केन्द्रित अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की विकास में सहभागी के रूप में स्वीकृति शिक्षा संबंधी नए नीतिगत माहौल के सूचक हैं। इस माहौल ने विविध रास्ते खोल दिए हैं। भारत में सार्वजनीकरण के मुद्दे के शिक्षा नीति के केन्द्र में होने ने यह संदेश दे दिया है कि शिक्षा को अब पहले की भांति विशेषाधिकार का दर्जा नहीं दिया जा सकता। यह संदेश इस तर्क को बल प्रदान करता है कि सबको शिक्षा उपलब्ध होने का मतलब है सभी बच्चों के लिए समान गुणवत्ता की शिक्षा होना (यूनेस्को, 2005)। सभी के लिए शिक्षा की उपलब्धता के साथ गुणवत्ता की इस दलील ने 'विकासवाद' के ऊपर इस तरह की नैतिकता की छड़ी का काम किया है, जिसे अपने मानकों का सार्वभौमिक रूप से उपलब्ध 'अच्छे' जीवन के सूचकों के रूप में चुनकर उपयोग करने वाली विकसित पश्चिम की जीवन शैली का प्रचार करने वाली विचार पद्धति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। किन्तु

गुणवत्ता के तर्क में असली ताकत और समसामयिक प्रासंगिकता भूमण्डलीकृत अर्थव्यवस्था में विश्वसनीय श्रम, विशेषज्ञता और ज्ञान के प्रवाह को नियमित करने की जरूरत से आती है। यद्यपि यह भी एक विमर्श का विषय है कि तथाकथित ज्ञानाधारित अर्थव्यवस्था एक हकीकत है या कोरी विचारधारा है, आए दिन इसका विमर्श जिस हद तक सूचना व संचार तकनीक (आईसीटी) के विकास को शिक्षा में गुणवत्ता के विकास के साथ जोड़ता है उसमें शिक्षा की अवधारणा का पर्याप्त मात्रा में ह्रास या महत्त्वहीनता निहित है। जब आईसीटी का उल्लेख शिक्षा की उपलब्धता में गुणवत्ता को बढ़ाने वाले एक साधन के रूप में किया जाने लगता है और इसके फलस्वरूप उसे इसका हिस्सा बनाया जाने लगता है तब शिक्षा की अवधारणा को सूचना के हस्तान्तरण मात्र तक सीमित कर दिया जाता है।

आज उपयोग में लिए जा रहे 'गुणवत्ता' शब्द का ध्यान तुलनात्मक रूप से शिक्षा के साधन रूप वाली विशेषताओं पर अधिक केन्द्रित है और शिक्षा की जरूरी विशेषताओं से उसका दूर का भी कोई नाता मुश्किल से ही रह गया है। ऐसी अवस्था में कोई गुणवत्ता से शिक्षा के समग्रतामूलक या व्यापक अर्थ की उम्मीद ही रख सकता है। गुणवत्ता पर चल रहा समकालीन विमर्श तो सीखने के संकीर्ण दृष्टिकोण तक ही सीमित रह जाता है जो व्यवहारवादी शिक्षण सिद्धांत व शिक्षणशास्त्र का पर्याय बन चुका है। इस सिद्धांत और इसके द्वारा पेश किए गए शिक्षणशास्त्रीय सुझावों के हिसाब से सीखना कुछ ऐसी चीज है जिसे नियोजित किया जा सकता है, जिसके बारे में पूर्वानुमान लगाया जा सकता है और एक बार हो जाने के बाद उसे ठीक-ठीक मापा भी जा सकता है (स्टेनहाउस, 1975)। न सिर्फ विकासशील देशों में बल्कि पूरी दुनिया में गुणवत्ता संबंधी विमर्श ने स्पष्ट रूप से बड़े स्तर पर आयोजित की जाने वाली परीक्षा के महत्त्व को स्थापित करने की प्रवृत्ति दर्शाई है जो बदले में पूर्वानुमान लगाए जा सकने वाले शिक्षण को ही बढ़ावा देती है। आर्थिक जिम्मेदारियों के संदर्भ में भी परिणाम के आग्रह ने लोकप्रियता हासिल की है। इस प्रकार 'परिणाम' या 'नतीजा', 'पारदर्शिता' और 'जिम्मेदारी' शिक्षा में गुणवत्ता के विमर्श के आवश्यक अंग बन गए। लागू की जा रही नीति के इन आयामों पर बल देने से सीखने और सिखाने दोनों में स्वभाविक प्रेरणा, शैली और परिस्थिति विशेष की विविधता आदि जैसे मूल्यों के प्रति स्वीकृति में ह्रास हुआ है। एक सार्वभौमिक मुद्दे के रूप में आज गुणवत्ता का आधिपत्य केवल सीखने की अवधारणा में जड़ता नहीं है जैसा कि तंत्रगत विमर्शों में प्रतिबिंबित होता रहा है बल्कि इसे ऐतिहासिक ह्रास की तरह देखे जाने की जरूरत है।

न सिर्फ विकासशील देशों में बल्कि पूरी दुनिया में गुणवत्ता संबंधी विमर्श ने स्पष्ट रूप से बड़े स्तर पर आयोजित की जाने वाली परीक्षा के महत्त्व को स्थापित करने की प्रवृत्ति दर्शाई है जो बदले में पूर्वानुमान लगाए जा सकने वाले शिक्षण को ही बढ़ावा देती है। आर्थिक जिम्मेदारियों के संदर्भ में भी परिणाम के आग्रह ने लोकप्रियता हासिल की है।

गुणवत्ता और समानता

अब हम वर्तमान में चल रहे गुणवत्ता के इस विमर्श में मौजूद विडंबना के तत्त्व की सराहना कर सकते हैं। एक ओर शिक्षा में गुणवत्ता का मुद्दा समानता और न्याय के लिए जरूरी नैतिकता की अभिव्यक्ति है, क्योंकि अब शिक्षा को एक तरह के विशेषाधिकार का दर्जा हासिल नहीं रहा, जबकि दूसरी ओर यही शिक्षा की उपलब्धता और शिक्षा के मूल तत्त्व के बीच अलगाव के माध्यम से शिक्षा के सार्वजनीकरण के प्रबंधन की मदद करता है। इस विडंबना के कारण गुणवत्ता का विमर्श गुणवत्ता को एक ऐसी चीज की तरह जो उसमें कुछ मूल्य जोड़ पाती के विपरीत शिक्षा के मूल गुण की तरह बरकरार रख पाने में ही असफल हो गया है। इस असफलता का एक परिणाम शिक्षा का वह न्यूनतावादी कार्यक्रम है जो शिक्षा के सार्वजनीकरण के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एक वैध कदम की तरह लागू होता दिखता है। हिन्दुस्तान सहित दुनिया के बहुत से देशों में चलने वाला यह कार्यक्रम इतना न्यूनतावादी है कि यह शिक्षा के नाम पर एक भवन जैसी चीज, जिसे विद्यालय कहा जाता है, से थोड़ा ही अधिक उपलब्ध करवाता है। भूमण्डलीकरण की शीघ्रता उन्मुखी प्रकृति के अंतर्गत इस तरह का न्यूनतावाद श्रेष्ठता के ऐसे द्वीपों की रचना को आमंत्रित करता है जहां देश की तथाकथित प्रतिस्पर्धात्मक धार को चमकाया जा सके जबकि एक बड़ा तंत्र शिक्षा की उपलब्धता में गुणवत्ता नामक घटक के सत मात्र को पाने के बदलाव तक पहुंचने के लिए भी अभी तैयार ही हो रहा होता है। यह सुझाव देकर कि एक पूरे तंत्र के उद्देश्य के रूप में समानता केवल मात्रा को ही पोषित कर सकती है, जबकि गुणवत्ता के लिए तो समानता को स्थापित करना जरूरी होता है, यह तर्क समानता एवं गुणवत्ता के बीच एक मूल तनाव या विरोधाभास को प्रस्तुत करता है।

शिक्षा के संदर्भ में गुणवत्ता शब्द के हाल ही में उपयोग किए जाने की पृष्ठभूमि बनाने वाली नवउदारवाद की विचारधारा आर्थिक और शैक्षिक

सुधार या नवीनीकरण के उद्देश्य के रूप में 'विकल्प' और उसके विस्तार पर जोर देती है। शिक्षा में राज्य के पीछे हटने और निजी पहल के लिए मौके बढ़ाने की पैरोकारी करने वाले लोगों ने हाल ही पिछले कुछ समय में इस 'विकल्प' नामक विचार के आसपास गढ़े गए कुछ नए अनुमोदनों को प्रस्तावित किया है व आगे बढ़ाया है और हरेक स्थिति में दी गई दलील को गुणवत्ता के नाम पर तर्कसंगत ठहराया है। निजी विश्वविद्यालय, कम अवधि के शिक्षक शिक्षा कार्यक्रम, एनजीओ (गैर-सरकारी संस्थाओं) द्वारा संचालित सेवाकालीन प्रशिक्षण और वाउचर उन बहुत से मुद्दों में से हैं जिनके बारे में नवउदारवादी दलील ने गुणवत्ता का एक ऐसे प्रयोजन के तौर पर हवाला दिया है जिसे किस्म, तरीकों के रूप में उपभोक्ता के विकल्प बढ़ाकर व शिक्षा उपलब्ध करवाने वालों की संख्या बढ़ाकर पूरा किया जा सकता है। इस आग्रह को समझने व इससे निपटने के लिए हमें यह समझने की जरूरत है कि किस तरह गुणवत्ता और विकल्प एक-दूसरे से संबद्ध प्रतीत होते हैं और तब विकल्प कैसे आत्म-निर्भर होकर निर्णय लेने व काम करने की क्षमता- इस शब्दावली ने भी हाल के दशकों में शिक्षा में लोकप्रियता हासिल की है- का समानार्थी प्रतीत होने लगता है। इसकी वर्तमान लोकप्रियता के लिए दो संसाधन क्षेत्रों को उद्धृत किया जा सकता है जिनसे इसका आज का अर्थ अपना सार ग्रहण करता है : एक संज्ञानात्मक क्रांति जिसने इस बात पर जोर दिया कि बच्चों में आत्म-निर्भर होकर निर्णय लेने व काम करने की क्षमता होती है जो उन्हें जन्मजात सीखने वाला बनाती है और दूसरा अनेक जनान्दोलन जिन्होंने आत्म-निर्भर होकर निर्णय लेने व काम करने की क्षमता को उत्पीड़ितों में पैदा करने को अपना उद्देश्य बनाया। दोनों ही क्षेत्रों में यह अर्थ इस समझ से आता है कि जब किसी में आत्म-निर्भर होकर निर्णय लेने व काम करने की क्षमता होती है तो वह स्वायत्ता का प्रयोग कर चुका होता है। एक प्रासंगिक प्रश्न यहां पूछा जाना चाहिए कि क्या यह विकल्प को चुनने की स्वतंत्रता थी ? यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि आत्म-निर्भर होकर निर्णय लेने व काम करने की क्षमता तथा विकल्प के बीच हमारे इस तरह धुंधली-सी समानता ढूंढ़ लेने से बतौर विचार नवउदारवाद ने बहुत फायदा उठाया है। बतौर शब्द 'विकल्प' उदारवाद के इतिहास में बहुत गहरे पैठा हुआ है और समकालीन नवउदारवाद उसका एक अतिवादी व अनिवार्य रूप से असभ्य रूप है। इन दो शब्दों में जो मूल भेद है वह यह कि 'आत्म-निर्भर होकर निर्णय लेने व काम करने की क्षमता' में आविष्कारशीलता की एक ध्वनि निहित है जो 'विकल्प' में नहीं है, क्योंकि विकल्प सदा ही पहले से आविष्कृत चीजों के बीच उपलब्ध होता है। शिक्षा का ताल्लुक मनुष्य की स्वयं अपने लिए एवं इस दुनिया के लिए नए-नए उद्देश्य निर्धारित करने की क्षमता से है न कि सिर्फ दिए गए उद्देश्यों को पा लेने मात्र से। हम आत्म-निर्भर होकर निर्णय लेने व काम करने की क्षमता पैदा करने की क्षमता को एक मूलभूत विशेषता की तरह देख सकते हैं और इस वजह से इसे गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का एक मानक मान सकते हैं। विकल्प उपलब्ध करवाने व उसे बेहतर बनाने की क्षमता शिक्षा के लिए एक बहुत ही सीमित उद्देश्य है, क्योंकि यह जगत को प्रदत्त मानकर चलती है।

भारत के संदर्भ में गुणवत्ता व समानता के बीच के इस आभासी द्विभाजन को स्वतंत्रता के बाद की भारतीय शिक्षा नीति के निर्माता जे. पी. नायक (1975) ने एक रूपक के रूप में बहुत ही बढ़िया ढंग से परिभाषित किया है। उनकी पुस्तक का उपशीर्षक गुणवत्ता, समानता और मात्रा को एक नीतिगत दुविधा के रूप में स्थापित करते हुए इसकी एक 'दुर्ग्राह्य त्रिकोण' के रूप में विवेचना करता है। गुणवत्ता को एक विशेषता मानकर और इसीलिए शिक्षा से अलग नहीं किए जा सकने वाले एक लक्षण की तरह देखते हुए इसकी अवधारणा का पुनरावलोकन करना हमारी यह समझने में मदद करता है कि यह त्रिकोण दरअसल इतना मिथ्या क्यों है, इसका अर्थ है कि इसकी दुर्ग्राह्यता नीतिगत विकल्पों की कमजोर संकल्पना करके ऐतिहासिक रूप से गढ़ी गई है। चूंकि तुलना गुणवत्ता का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ है, अतः किसी राष्ट्रीय तंत्र की क्षमता की दूसरों के साथ प्रतिस्पर्धा करने के अवसर को इसके अपने सर्वश्रेष्ठ उत्पादों को निष्पक्ष व खुले ढंग से पहचानने की क्षमता पर निर्भर होने की तरह समझाया जा सकता है। अगर प्रतिस्पर्धा प्रतिभा को पहचानने का सबसे बेहतर तरीका है तो यह स्पष्ट है कि छोटे व संकीर्ण समूह में से प्रतिभा चुने जाने के बजाय मानवीय विविधता के संभावित सबसे बड़े समूह व उसके सभी रूपों में से उसे चुने जाने से गुणवत्ता आने की संभावना अधिक बढ़ जाती है। और यही नहीं इस दृष्टिकोण से यदि प्रतिभा का चुनाव छोटे व संकीर्ण समूह में से किया जाता है तो हर अगले चुनाव में चुनी गई प्रतिभा की प्रतिस्पर्धात्मक गुणवत्ता कमजोर होते जाने से चुने जाने की प्रक्रिया पुनरुत्पादन में बदल जाती है। अतः इस विचार के मुताबिक यह निष्कर्ष निकालना ठीक होगा कि समानता गुणवत्ता का ही एक पहलू है न कि उससे विपरीत कुछ और। इस निष्कर्ष के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जो राष्ट्रीय तंत्र सभी प्रतियोगियों के लिए अधिक निष्पक्ष व खुले हैं वे भूमण्डलीकृत व्यवस्था में बेहतर प्रतिस्पर्धा कर पाएंगे क्योंकि धारण करने के क्रमिक चरणों और शिक्षा के लंबे अनुभव वाले ऐसे तंत्र से चुने गए बच्चों के पास प्रतिस्पर्धात्मक अस्तित्व के लिए जरूरी सबसे बेहतर कौशल होंगे।

हालांकि यह दृष्टिकोण गुणवत्ता और समानता के बीच आभास होती दूरी या उनके बीच के विरोध को दूर करने में हमारी मदद

करता है, लेकिन यह शिक्षा में गुणवत्ता के पहले अर्थ यानी मूल गुण और उस पर बल देने के तर्क से भी हमें च्युत करता है। गुणवत्ता और समानता को असावधानीवश मिलाने वाला बिन्दु इसके इस विचार का समर्थन करने के कारण कि प्रतिस्पर्धा सबसे बेहतर को पहचान देने का मौका देकर आवश्यक रूप से गुणवत्ता उपलब्ध करवाती है, हमें सामाजिक-डार्विनवादी गुण की ओर ले जाता है। शिक्षा के संदर्भ में इस तरह के विचार की एक सामान्य बुद्धिमत्ता परक महत्ता होती है। कई बार यह तर्क दिया जाता है और काफी असरदार तरीके से दिया जाता है कि प्रतिभा के मामले में शिक्षार्थियों में अन्तर होता है और यह भी कि यदि हम शिक्षा को राष्ट्र निर्माण अथवा राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धी बनाने के प्रभावशाली उपकरण के रूप में उपयोग करना चाहते हैं तो हमें प्रतिभाशालियों को कम प्रतिभाशालियों से अलग पहचानना चाहिए। इस तरह के विचार अपनी असरकारी क्षमता में और अधिक ताकत ग्रहण करते हैं जब इसके समर्थक कहते हैं कि प्रतिभा को उसके लिंग, वर्ग, जाति और धर्म से निरपेक्ष होकर पहचानना व प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। यह तर्क का वह तत्व है जो इसे उस आरक्षण नीति के खिलाफ खड़ा करता है जो अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व अन्य पिछड़ा वर्ग के लिए प्रतिस्पर्धात्मक रूप से वंचित होने की भरपाई का प्रयास करती है। इस कारण से विचार की यह पद्धति आकर्षक है, यह कम प्रतिस्पर्धियों- जैसा कि इस समय में सामाजिक वर्ग हैं- को सक्षम बनाने की शिक्षा की भूमिका और क्षमता को याद करती है और उस अर्थ में आज के 'कम प्रतिभाशाली' लोग उन विशेषताओं को अर्जित करें जो उन्हें अधिक प्रतिस्पर्धी बना सकें। इस अर्थ में शिक्षा की यह क्षमता, कि शिक्षा व्यक्तियों की जिंदगियों और उससे भी बढ़कर जाति, वर्ग या लिंग के रूप में परिभाषित समूहों के जीवन, दोनों में समय के लंबे कालखण्ड में अपना काम करती है, इसकी प्रकृति से निकलकर आती है। अगर इन समूहों में जीवन के कुछ और पहलू आज शैक्षिक योग्यता या प्रतिभा की कमी पैदा करते हैं तो यह मानने का हर संभव कारण है (उदाहरण के लिए, यदि शिक्षा के साधन रूप में विश्वास किया जाए जैसा कि प्रतिस्पर्धात्मक समानता के समर्थक करते हैं) कि समय के साथ ऐसे समूहों की प्रतिभा में कमी लाने वाली प्रक्रियाएं कमजोर पड़ जाएंगी या समाप्त हो जाएंगी। तब उन समूहों के लोग गुणवत्ता की प्रतिस्पर्धात्मक विचारधारा- जो कि आज शिक्षा में प्राथमिक मुद्दा है- के समर्थकों को संतुष्ट करते हुए दूसरे लोगों के साथ ज्यादा बराबरी से प्रतिस्पर्धा कर पाने में सक्षम होंगे।

शिक्षा एक ही बार किया जाने वाला अनुभव नहीं है बल्कि सीखने वाले के विकास के साथ विकसित होने व बदलने की प्रवृत्ति रखने वाली चीज है इसलिए समानता को हर व्यक्ति के विकास के अपने अनोखे तरीके के संदर्भ में देखे जाने की जरूरत है।

अगर शिक्षा की संकल्पना व नियोजन छोटे एवं संकीर्ण कालखण्ड के दायरे में किया जाता है या केवल वर्तमान की चुनौतियों का सामना करने के लिए किया जाता है तो यह संभावना खत्म की जा सकती है। वैश्वीकरण ठीक यही परिदृश्य उपस्थित करता है और सीधे-सीधे अपनी प्रकृति के जरिए नहीं बल्कि हिन्दुस्तान जैसे विकासशील देशों की सरकारों के लिए सामाजिक सेवाओं के संदर्भ में राजकोषीय मितव्ययता का अगुआ बनकर करता है। विशेष रूप से स्वास्थ्य और शिक्षा के संदर्भ में। शैक्षिक निधि के लिए वित्तीय अभाव के बारे में बात करना व साथ-साथ इसे इस तरह की धारणा के साथ- कि शिक्षा एक दीर्घकालीन पूंजी निवेश है, कि मानवीय पूंजी में निवेश है, कि जिसका वर्तमान मूल्य आज के निवेश से ठीक-ठीक नहीं आंका जा सकता और उसमें भविष्य में मिलने वाला फायदा भी शामिल किया जाना चाहिए- यथार्थ में मूर्त रूप देना एक धोखा है। दीर्घकालीन लाभ की इस स्वीकृति के बिना शिक्षा पर किए जाने वाले खर्च में कटौती ही एक बेहतर चीज लगती है। दूसरा व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण यह है कि शिक्षा से दीर्घकालीन लाभ की यह स्वीकृति शिक्षा को समृद्धि के हिरण के पीछे भागने और उसमें 'निपुण' बनाने के प्रचलित विचार के समर्थक अर्थशास्त्रियों और प्रबंधकों को बेचारा बनाती है। शिक्षा की वर्तमान, अल्पकालीन संकल्पना को जारी रखते हुए हमने शिक्षा के अपने अस्तित्व को खोते जाने का जो समानान्तर खतरा बनाया है उसके बरक्स हमें शिक्षा के महत्त्व की क्रमिक होती हानि को संतुलित करना होगा।

वृहद परिप्रेक्ष्य

गुणवत्ता और समानता के बीच के मिथ्या द्विभाजन को वृहद परिप्रेक्ष्य में देखे जाने की जरूरत है। 'गुणवत्तापूर्ण जीवन' यह पद गुणवत्ता के दो अर्थों को परस्पर नजदीक आने के लिए बाध्य करके हमें इस तरह का परिप्रेक्ष्य उपलब्ध करवाता है। जब हम गुणवत्ता के बारे में जीवन की तरह व्यापक श्रेणी के संदर्भ में बात करते हैं तो इसके पहले अर्थ एक वस्तु या अनुभव का मूल गुण व इसके दूसरे अर्थ तुलना का साधन के बीच भेद करना मुश्किल हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि जीवन एक सर्व-समावेशी विचार है। अपनी समग्रता में जीवन की तुलना किन्हीं भी दो स्थितियों या संदर्भों में करने का कोई भी प्रयास हमारा ध्यान जीवनानुभवों की

विषमताओं की ओर अवश्य ही खींचेगा। कम विषमता का अर्थ होगा अधिकाधिक व्यापक गुणवत्ता। यह ठीक वह तर्क है जो विल्किन्सन व पिकेट (2009) ने सामाजिक परिणाम के संबंध में आर्थिक विकास पर किए अपने अध्ययन में प्रस्तुत किया है। उन्होंने पाया कि जीवन की गुणवत्ता के सूचक के रूप में सकारात्मक सामाजिक परिणाम आर्थिक रूप से संपन्न परंतु अधिक विषमता वाले समाजों के बनिस्बत अधिकाधिक समानता वाले समाजों में प्रचुरता से पाए जाते हैं। यद्यपि इस अध्ययन के केन्द्र में स्वास्थ्य है लेकिन इसका नजरिया शिक्षा के लिए भी प्रासंगिक है। इस तथ्य के अतिरिक्त कि शिक्षा के लाभ तार्किक रूप से अधिक वैविध्यपूर्ण हैं और उनमें से कुछ सक्षम बनाने वाली दूसरी परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं, शिक्षा और स्वास्थ्य दोनों ही मानव जीवन को सक्षम बनाने वाली परिस्थितियों को पनपाती हैं। यह लगभग असंभव-सी बात है कि अच्छा स्वास्थ्य किसी को उदास करे लेकिन शिक्षा किसी को उदासी से भर सकती है अगर उसे नौकरी न मिले और ऐसा करने की उम्मीद उसके शिक्षित होने के कारण की जाती हो। इस उदाहरण में हम पूछ सकते हैं कि क्या एक व्यक्ति की नौकरी पाने में मदद की क्षमता ही शिक्षा का मुख्य गुण है। जैसा कि एक बड़े आधुनिक चिंतक गांधी ने इस विचार को औपनिवेशिक शिक्षा की आलोचना करने के लिए काम में लिया है, लेकिन ऐसा उन्होंने नौकरी के रूप में नहीं बल्कि कमाने की क्षमता को शामिल करके आत्म-निर्भरता के संदर्भ में किया है। यह एक महत्त्वपूर्ण भेद है क्योंकि यह शिक्षा की दो दक्षताओं सिखाने व रुचि उत्प्रेरण की भूमिकाओं की ओर ध्यान आकृष्ट करता है जो शिक्षा के मूल पहलुओं में से एक की तरह देखे जाने की दरकार रखता है या दूसरे शब्दों में कहें उसमें अंतर्निहित गुणवत्ता की तरह देखे जाने की।

सूक्ष्म भेद वाली समानता

अगर समानता वास्तव में गुणवत्ता का ही एक पहलू है तो हमें यह सुनिश्चित करना चाहिए कि हम समानता के साथ यांत्रिक ढंग से बर्ताव न करें। यही वह समस्या है जो मनुष्यों के बीच समानता ने इसके समर्थकों के सामने हमेशा प्रस्तुत की है। संदर्भ के आधार पर समानता कई तरह की हो सकती हैं, अतः हमें यह विचार करना होगा कि शिक्षा के लिए किस तरह की समानता सबसे अधिक प्रासंगिक है। इस तथ्य को जानते हुए कि शिक्षा एक ही बार किया जाने वाला अनुभव नहीं है बल्कि सीखने वाले के विकास के साथ विकसित होने व बदलने की प्रवृत्ति रखने वाली चीज है इसलिए समानता को हर व्यक्ति के विकास के अपने अनोखे तरीके के संदर्भ में देखे जाने की जरूरत है। अगर समानता को एक खास अंदाज में शैक्षिक उपाय के रूप में गुणवत्ता के एक पहलू की तरह बरता जाए तो सार्वभौमिकता का मतलब एकरूपता नहीं हो सकता, किसी भी अर्थ में नहीं हो सकता। एक बड़े तंत्र को प्रबंधित करने की जरूरत से सामान्यतः यह समझा जाता है कि नियंत्रण, शिक्षार्थियों व शिक्षकों से अधिक केन्द्रीकृत अधिकार संपन्न पदों पर बैठे लोगों के हाथों में ऊपर की ओर चला जाता है। राज्य द्वारा संचालित तंत्र में ऐसे अधिकारी नौकरशाह होते हैं और निजी क्षेत्र में यह अधिकार प्रबंधकों या वित्त उपलब्ध करवाने वालों के हाथों में चला जाता है। अगर कोई शैक्षिक तंत्र या संस्थान दबावों या इस तरह के अधिकारियों की स्वाभाविक दिखती मांग के आगे झुक रहा होगा तो वह शिक्षा की गुणवत्ता के साथ समझौता कर रहा होगा चाहे उसके उत्पाद में बहुत अच्छे से डिजाइन की गई कार या स्वास्थ्यकर ढंग से पैक किए गए कॉर्नफ्लेक्स की सी चमक और साज-सज्जा नजर आए। अपनी वातानुकूलित कक्षाओं व क्लोज सर्किट टेलीविजन कैमरों का विज्ञापन करने वाले निजी स्कूल अपनी गुणवत्ता का हवाला ठीक इसी अस्पष्ट बोध के तहत देते हैं। शैक्षिक गुणवत्ता की मांग है कि शिक्षार्थी अपने विकास पर कुछ नियंत्रण रख पाए और शिक्षक ऊपर से आने वाले आदेशों या अभिभावकों व बाजार द्वारा उत्पन्न मांग की बनिस्बत शिक्षार्थी के प्रति जवाबदेही में पर्याप्त स्वायत्त रह पाए।

वर्तमान में विषमता निर्धारित करने वाली सभी श्रेणियों- लिंग, जाति, आदिवासी या किसान पृष्ठभूमि और अन्य- के लिए गुणवत्ता प्रासंगिक बन पाए उस तरह उसे परिभाषित करने के लिए एक समान्तर उदाहरण गढ़ने की जरूरत है। एक अलग और सूक्ष्म भेद वाले इस तरह के बर्ताव की जरूरत है क्योंकि शिक्षा के अनुभवजन्य पहलू के रूप में गुणवत्ता उन विभिन्न सामाजिक वर्गों के बच्चों के लिए, जो वर्तमान तंत्र में विषमता को सहते हैं, विशेष चुनौती प्रस्तुत करती है। विषमता के प्रति असंवेदनशील या उससे अनभिज्ञ कक्षा में अंतर्निहित भेदभाव के विशेष तरीके शिक्षा की गुणवत्ता को- बल्कि उसकी कमी को- बताते हैं। एक आदिवासी बच्चे के संदर्भ में इसका मतलब भाषा की विषमता हो सकती है, जबकि एक अनुसूचित जाति के बच्चे के लिए इसका मतलब साथी शिक्षार्थियों व शिक्षक के हाथों में भेदभाव हो सकता है। इस घटना को कुछ विस्तार से बताने के लिए और यह समझाने के लिए कि कैसे विषमता की पृष्ठभूमि में स्कूल को सुविचारित तरीके से शैक्षणिक गुणवत्ता को विकसित करना चाहिए, लिंगभेद का एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

इस कथन के बारे कुछ संदेह हो सकता है कि शिक्षा का अनुभव लड़कियों के लिए सामान्यतः कम गुणवत्तापूर्ण होता है, क्योंकि वे

जिन स्थितियों में यह अनुभव प्राप्त करती हैं वे अपनी विषमता की ताकीद से ज्यादा भरे होते हैं (लड़कों की अपेक्षा)। कक्षा के भीतर की शैक्षणिक स्थितियों और स्कूली जीवन के अन्य दायरों में व्याप्त भेदभाव लड़कियों को अपनी बौद्धिक संभावना को पूरी करने के मौके नहीं देता। मान लो, एक स्कूल ने इससे निकलने में सफलता हासिल कर ली या लड़कियों के प्रति भेदभाव की अपनी गतिविधियों के सभी दायरों में निषेध कर दिया तो यह सभी दायरों में तो नहीं लेकिन लड़कियों के शैक्षणिक अनुभव में गुणवत्ता को बढ़ा देगा। फिर भी यदि स्कूल ने लड़कियों द्वारा स्कूल से बाहर घर व अन्य जगहों पर, स्कूली जीवन से असंबद्ध अनुभवों में सही जा रही विषमता की क्षतिपूर्ति करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया तो कुछ पहलुओं में इसकी गुणवत्ता कमजोर या कम ही रही आएगी। किशोरावस्था के बाद के सामाजीकरण के जिन अनुभवों से लड़कियों को वश में किया जाता है उनका विश्लेषणात्मक दस्तावेज सामाजिक नृविज्ञानी लीला दुबे (2001) ने तैयार किया है। उनकी बच्चों-सी स्वभाविक चपलता पर रोक लगाना व इस चिंता का शामिल होना कि अपना जन्मजात घर छोड़कर जाना औरत होने का एक अनिवार्य पहलू है और शादी व मातृत्व जीवन का एक मात्र उद्देश्य है, मन में बिठाई जाने वाली सांस्कृतिक बातों के उन आम पहलुओं में से जिनसे लड़कियों को वश में किया जाता है। किशोरपन के आगमन के साथ मन में बिठाई जाने वाली इन बातों का दौर और कटु होता जाता है। नारी शरीर से संबंधित अपवित्रता का सांस्कृतिक रूप से स्वीकृत विचार परिश्रमपूर्वक रोपा गया है। अधीनता और हीनता की स्वीकृति से जुड़ी ये नकारात्मक स्थितियां और मूल्य शिक्षा के उद्देश्यों से पूरी तरह असंगत हैं। जिस नकारात्मक मानसिकता के साथ लड़कियां आती हैं यदि स्कूल उस पर ध्यान नहीं देता है तो इसे गुणवत्तापूर्ण शिक्षा कहना बहुत मुश्किल होगा क्योंकि यह उन्हें केवल यांत्रिक रूप से बराबरी वाले अनुभव में लड़कों के साथ प्रतिस्पर्धा के लिए तैयार करती है।

शिक्षा में लैंगिक समानता उपलब्ध करवाने और उसके फलस्वरूप गुणवत्ता का दावा करने के लिए, स्कूल के बाहर, घर में व सांस्कृतिक जगत में स्थित विषमता के स्रोतों को शामिल करते हुए लैंगिक विषमता के ज्यादा गहरे स्रोतों पर ध्यान देकर इसके अनुभवों में विशिष्ट पाठ्यचर्यात्मक व शैक्षणिक उपायों को शामिल करना पड़ेगा। समानता का यह पूरक पहलू महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह स्कूल में बच्चे की सीखने की क्षमता पर पड़ने वाले विषमता के अवरोध व अटकाव वाले प्रभाव को संतुलित कर देता है या पलट देता है। विवाद का विषय यह है कि स्कूल में शिक्षा की गुणवत्ता को उस वृहद दुनिया से अलग करके नहीं देखा जा सकता जिसमें बच्चे का विकास होता है क्योंकि स्कूल के अपने शैक्षिक प्रावधान की गुणवत्ता को उन्नत करने के प्रयास स्कूल के प्रयास से बच्चे को हासिल स्वतंत्रता पर निर्भर करते हैं। स्वतंत्रता का अर्थ उस स्थिति से है जहां अवरोध वाले प्रभावों को मिटा दिया जाता है। वृहद सामाजिक और खास तौर पर सांस्कृतिक शक्तियों के सहयोग के बिना अकेली शिक्षा से किस सीमा तक स्वतंत्रता बढ़ाई जा सकती है, यह एक दीगर सवाल है। ◆

विवाद का विषय यह है कि स्कूल में शिक्षा की गुणवत्ता को उस वृहद दुनिया से अलग करके नहीं देखा जा सकता जिसमें बच्चे का विकास होता है क्योंकि स्कूल के अपने शैक्षिक प्रावधान की गुणवत्ता को उन्नत करने के प्रयास स्कूल के प्रयास से बच्चे को हासिल स्वतंत्रता पर निर्भर करते हैं। स्वतंत्रता का अर्थ उस स्थिति से है जहां अवरोध वाले प्रभावों को मिटा दिया जाता है।

भाषान्तर : प्रमोद पाठक

संदर्भ

Dube, L. (2001). *Anthropological exploration in gender.* New Delhi: Sage Publicatios.

Kumar, K., Priyam, M., and Saxena, S. {2001, Febuary 17}. Lookin beyond the smokescreen: DPEP and primary education in India. *Economic and Political Weakly, 36(7)*, 560- 568.

Kumar, K., and Sarangapani, P. (2004). History of the quality debate. *Contemporary Education Dialogue,* 2 (1), 30- 52.

Naik, J. P. (1975). *Eqality, quality and quantity: The elusive tringle of Indian education.* Bombay: Allied Publisher.

Stenhouse, L. (1975). *An introduction to curriculum research and development.* London: Heinemann.

United Nations Educational, Scientific and Cultural Organisation (UNESCO). (2005). *Education for all: The quality imperative* (Global Monitorin report 2005). Paris: UNESCO.

Wilksion, R., and Pickett, K. (2009). *The spirit level: Why more equal socities almost always do better.* London: Allen Lane.

संपर्क

32-ए, छात्रा मार्ग, मोरिस नगर,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007